

शिवलिंग से मुखलिंग तक शैव प्रतिमा विज्ञान की रूपांतरण-यात्रा

डॉ. आशीष कुमार चाचोंदिया^{1*}

¹ सहायक प्राध्यापक (प्राचीन इतिहास), उच्च शिक्षा उत्कृष्टता संस्थान, भोपाल (म.प्र.)

सारांश

यह लेख शिवलिंग के प्रतीकात्मक अर्थ को व्याख्यायित करता है और इसके साथ विशेष रूप से गुप्तकालीन मुखलिंग की प्रतिमा विज्ञान परंपरा को भी प्रस्तुत करता है। वस्तुतः लिंग को केवल किसी एक अर्थ में सीमित करना न तो लिखित साक्ष्यों के अनुकूल है और न ही प्राचीन प्रतिमाओं की रूप-रचना के। शैव दर्शन में स्तंभ, ज्योति, बिंदु और सृष्टि-शक्ति के रूपक लिंग को, चेतना तथा विश्व-व्यापी सत्ता के संकेत के रूप में रखा जाता है; लेकिन मुखलिंग के सन्दर्भ में अर्थ कुछ भिन्न प्रकट होते हैं। वस्तुतः मुखलिंग लिंग रूप के अमूर्त संकेत को साकार देव-उपस्थिति से जोड़ता है। उचाहरा, खोह, भूमरा और राजघाट की प्रतिमाओं के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि शिल्प में समाधि, राजस गरिमा और नियंत्रित अलंकरण के माध्यम से शिव की आंतरिक शक्ति को दृश्य बनाया गया है। भीटा और गुडीमल्लम् के उदाहरण इसके संदर्भ, आकृति, पाठ और पूजा-व्यवहार को साथ पढ़ने की आवश्यकता को भी दिखाते हैं।

शब्द कुंजी: शिवलिंग, मुखलिंग, शैव प्रतिमाविज्ञान, समाधि, प्रतीकवाद

संप्रेषक लेखक

डॉ. आशीष कुमार चाचोंदिया
dr.ashishkc@gmail.com

शोधपत्र का उद्धरण

चाचोंदिया, ए. के., (2026).
शिवलिंग से मुखलिंग तक शैव
प्रतिमा विज्ञान की रूपांतरण-
यात्रा, JESS, 1(2), 48-54

1. भूमिका

भारतीय धर्म और कला के इतिहास में शिवलिंग ऐसा रूप है जिसमें दार्शनिक संकेत, अनुष्ठानिक व्यवहार और मूर्तिकला की भाषा एक-दूसरे में प्रविष्ट दिखाई देते हैं। आधुनिक व्याख्याओं में इसकी अर्थ-संरचना को लेकर तीव्र मतभेद रहे हैं। एक ओर इसे निराकार ब्रह्म, ज्योति-स्तंभ अथवा सृष्टि के मूलाधार का संकेत माना गया है; दूसरी ओर कुछ यूरोपीय और भारतीय लेखकों ने इसे मुख्यतः शिश्र-प्रतीक के रूप में ही समझा है।¹ इस विरोध को किसी एक निर्णायक उत्तर में समेटना इतिहास लेखन की दृष्टि से उचित नहीं है। प्रश्न यह है कि अलग-अलग कालों, पाठों, प्रदेशों और दृश्य-रूपों में लिंग की संकल्पना ने कौन-से अर्थ ग्रहण किए और किन साक्ष्यों पर वे अर्थ आधारित हैं?

यह अध्ययन उपलब्ध सामग्री को तीन परस्पर संबद्ध स्तरों पर रखता है। पहला, शैव-शाक्त दार्शनिक भाषा में लिंग, बिंदु, स्पंदन और ज्योति का संबंध; दूसरा, गुप्तकाल में अमूर्त लिंग और मानवाकार शिव के संयोग से विकसित मुखलिंग; और तीसरा, औपनिवेशिक तथा आरंभिक आधुनिक प्रतिमा-वैज्ञानिक व्याख्याओं का आलोचनात्मक परीक्षण। ध्यातव्य है कि इस लेख का उद्देश्य किसी धार्मिक विश्वास का निर्णय करना नहीं है, बल्कि प्रतीक के ऐतिहासिक विकासक्रम को स्पष्ट करना है। इसलिए पुराण-कथाओं

को परंपरागत स्मृति, संस्कृत ग्रंथों को पाठ-साक्ष्य और पुरावस्तुओं को उनके भौतिक तथा स्थानीय संदर्भ में पढ़ा गया है।

लेख का प्रमुख आधार दो प्रकार का है: संस्कृत और पौराणिक परंपरा से जुड़े संकेत, तथा मुखलिङ्गों और संबंधित प्रतिमाओं का वर्णन। ऋग्वेद, यजुर्वेद के शतरुद्रीय सूक्त, निरुक्त, लिंगपुराण और कालिदास के कुमारसम्भव का उल्लेख इस व्यापक वैचारिक पृष्ठभूमि को रेखांकित करता है जिसमें शिव के अनेक रूपों की कल्पना की गई है। इन ग्रंथों की रचना और संकलन की दीर्घ प्रक्रियाओं को देखते हुए इन्हें किसी एक ऐतिहासिक काल का प्रमाण नहीं माना जा सकता है; फिर भी वे उन शब्दावली और धार्मिक कल्पनाओं को उपलब्ध कराते हैं जिनके साथ कालांतर में प्रतिमा-परंपराएँ संवाद करती हैं।

पुरातात्विक उदाहरणों में उचाहरा, खोह, भूमरा, राजघाट, रंगमहल, भीटा और गुडीमल्लम् विशेष महत्व रखते हैं। इनके विषय में रूप, आयाम, अलंकरण, स्थापना-स्थल और प्रस्तावित तिथि को अलग-अलग उल्लेखित करना आवश्यक है। किसी एक आकृति का दूरवर्ती संस्कृति, भाषा या धार्मिक समुदाय से सीधा संबंध स्थापित करने के स्थान पर इस लेख में तुलनात्मक निष्कर्षों को सीमित किया गया है।

2. लिंग की प्रतीकात्मकता एवं प्राचीनता

शैव और शाक्त परंपराओं में लिंग-भावना को प्रायः उस अविनाशी, सर्वव्यापी तत्त्व के संकेत के रूप में समझाया गया है जिसमें स्पंदन या क्षोभ से सृष्टि की प्रक्रिया आरंभ होती है। इस व्याख्या में शब्द और बिंदु के उद्भव, ऊपर उठती तरंग और मूलस्तंभ के रूपक प्रयुक्त होते हैं। मूलस्तंभ से विश्व का विस्तार होता है और लय के समय वही विश्व उसी मूल में समा जाता है। ऐसी भाषा लिंग को किसी जैविक वस्तु की प्रतिकृति से अधिक, अव्यक्त से व्यक्त की ओर गति करने वाली शक्ति के संकेत के रूप में रखती है।

ज्योति का विचार इस संरचना को और भी स्पष्ट करता है। वैष्णव, शैव, शाक्त और बौद्ध परंपराओं में प्रकाश का रूपक दैवीय उपस्थिति, ज्ञान और जागरण से जुड़ता है। शैव संदर्भ में ज्योति-स्तंभ शुद्ध चेतना की धुरी है; देवी को पुंजीभूत ज्योति और बुद्ध को महाज्योति के रूप में देखने वाली व्याख्याएँ भी इसी व्यापक धार्मिक शब्दावली का भाग हैं। स्तूप, स्तंभ, वृषभ, सिंह, धर्मचक्र और छत्र जैसे दृश्य संकेत अलग धार्मिक परंपराओं में समान नहीं हैं, फिर भी वे धर्म और अध्यात्म की साझा समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं।

लिंगनिर्माण की पद्धति इसकी प्रतीकात्मक यथार्थता को इस प्रकार प्रकट करता है, “लिंग की स्थिति तीन स्तरों में होती है। प्रथम भूमिस्थ (भोग पीठ), द्वितीय वेदी में स्थित (भद्र पीठ), और तृतीय पूजा हेतु (ब्रह्म पीठ)। भूमिस्थ को चतुष्कोण में, वेदिस्थ को अष्टकोण में और पूजास्थ को गोल बनाने के निर्देश दिए गए हैं। पूजा हेतु स्थापित लिंग के निम्नभाग में स्कन्द, मध्य में देवी, और उर्ध्व में रुद्र होते हैं। इसके अलावा इन्हें ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर के स्थान भी कहा गया है। ये तीन लोक, तीन गुण, तीन वेद आदि के प्रतीक भी कहे गए हैं।¹²

इस दृष्टि से लिंग की सरल ज्यामिति महत्वपूर्ण है। उसका ऊर्ध्वाकार रूप न केवल मंदिर-गर्भगृह में केंद्र बनाता है, बल्कि निराकार सत्ता को पूजनीय और दृश्य रूप में उपस्थित करता है। प्रतिमा-शास्त्रीय वर्णनों में आधार और शीर्ष के विन्यास, दिशाओं की योजना तथा मुखों की संख्या पर बल मिलता है।

इसलिए लिंग को केवल शब्दकोशीय अर्थ से परिभाषित करना अपर्याप्त है; उसके अर्थ को आकार, स्थान, अनुष्ठान और संबद्ध देव-चिह्नों के साथ व्याख्यायित करना आवश्यक है।

यहाँ यह उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा कि लिंगोपासना का प्रारंभ कब हुआ या इसकी प्राचीनता कहाँ तक जाती है। अधिकांश इतिहासकार और पुराविद या विश्वास करते हैं कि या प्रथा आदिम युग के प्रजनन शक्ति के प्रतीकों की निरंतरता ही है जिसे कालांतर में पौराणिक या शास्त्रीय सार्थकता प्रदान कर दी गयी। इतिहासकार आर. जी. भंडारकर का मत है कि कुषाणों के पूर्व लिंग-पूजा का प्रचलन नहीं रहा होगा।¹³ हालाँकि अनेक पुराविद हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त कुछ आकृतियों को लिंगोपासना के प्राचीनतम साक्ष्य बताते हैं, यद्यपि लिखित प्रमाणों के अभाव में स्पष्टतः कुछ कहा नहीं जा सकता है।

ईस्वी संवत् के कुछ समय पूर्व की कुछ मुद्राओं और मूर्तियों के आधार पर जीतेंद्रनाथ बनर्जी का यह मानना है कि इस समय शिव की पूजा लिंग और प्रतिमा दोनों ही रूपों में होती थी।¹⁴ इस सन्दर्भ में गुडीमल्लम (आंध्रप्रदेश) से प्राप्त शिवलिंग उल्लेखनीय है। इस लिंगाकृति पर जटाधारी शिव अपने हाथों में कमंडलु और परशु लिए अंकित किये गए हैं। यह शैवों द्वारा लिंगोपासना का स्पष्ट प्रमाण माना जाता है।¹⁵ गुप्तकाल के पूर्व तक लिंगाकृतियाँ शिष्णाकार ही होती थीं जो गुप्तकाल आते-आते लम्बवत् गोल रूप में निर्मित की जाने लगीं। गुप्तकाल में शैवमत की लोकप्रियता के प्रमाण अभिलेखों में भी मिलते हैं। चन्द्रगुप्त “विक्रमादित्य” के मथुरा स्तम्भ लेख में उपमितेश्वर और कपिलेश्वर शिवलिंगों की स्थापना का उल्लेख है। इसी समय के उदयगिरी लेख, कर्मदंडा लेख आदि शैव धर्म के प्रति जनश्रद्धा पर प्रकाश डालते हैं।¹⁶

3. शब्दार्थ और क्षेत्रीय व्यवहार

ऋग्वेद के ‘शिश्रदेव’ और बाद की टीकाओं को लेकर भी अर्थ-विवाद मिलता है। निरुक्त और सायण में इसे भोग-विलास की अवधारणा मानने अथवा शिश्र को आराध्य मानने वालों से संबद्ध करने वाली व्याख्याएँ बताई जाती हैं, किन्तु वैदिक पदों का अर्थ प्रसंग, व्याकरण और टीका-परंपरा से अलग नहीं किया जा सकता।¹⁷ इसी प्रकार लिंगपुराण का नाम स्वयं यह सिद्ध नहीं करता कि ‘लिंग’ का केवल एक ही अर्थ था। संस्कृत में लिंग का प्रमुख अर्थ चिह्न, लक्षण या संकेत भी है, और धार्मिक प्रयोग में यही व्यापक अर्थ सक्रिय रह सकता है। भुवनेश्वर के लिंगराज जैसे मंदिर-नाम तथा लिंगराज, महालिंग और लिंगस्वामी जैसे नामों का दक्षिण भारतीय व्यवहार भी यह याद दिलाता है कि शब्द का सामाजिक अर्थ स्थान और समुदाय के अनुसार बदल सकता है। यह भाषिक विविधता किसी एक धार्मिक रूप की व्याख्या को स्वतः प्रमाणित नहीं करती है, बल्कि शाब्दिक अर्थ की व्यापकता को प्रकट करती है।¹⁸

4. एकमुख त्रिमुख और पंचमुख रूप

मुखलिंग वस्तुतः प्रतीक-लिंग और मानवाकार देवता के बीच एक सेतु है। निराकार ब्रह्म के कल्पित रूप को व्यक्त करने के लिए लिंग पर मुख का निर्माण कर दिया गया है। सामान्यतः इस पर एक, तीन और पांच मुख बनाये जाने का विधान रहा है। पंचमुखी लिंग में पांचवां मुख प्रायः बनाया नहीं जाता है। एकमुखी रूप में अग्रभाग पर शिव का मुख उकेरा जाता है; त्रिमुखी रूप में सामने, बाएँ और दाएँ मुखों के माध्यम से शांत, सक्रिय और उग्र भावों की रचना होती है। परंपरागत व्याख्याएँ इन भावों को सत्त्व, रज और तम से जोड़ती हैं।¹⁹ यह वर्गीकरण प्रत्येक प्रतिमा की अनिवार्यता नहीं है, पर इससे यह स्पष्ट है कि बहुमुखता को दैवी व्यक्तित्व की बहुस्तरीय शक्ति व्यक्त करने का माध्यम माना गया।

पंचमुखी योजना में सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान नामों के साथ दिशा और तत्त्व के संबंध जोड़े जाते हैं। चार मुखों को दृश्य दिशाओं में रखा जा सकता है, जबकि ईशान को सूक्ष्म अथवा ऊर्ध्व दिशा से संबद्ध मानकर प्रत्यक्ष रूप में अनुपस्थित भी रखा जाता है।¹⁰ रंगमहल के टेराकोटा फलक में शिव-पार्वती के साथ दिखाई देने वाली बहुमुखता इस वैचारिक योजना का उपयोगी उदाहरण है। सामने से तीन मुख दिखाई देने पर भी शेष रूपों की कल्पना प्रतिमा के दृश्य क्षेत्र से परे एक व्यापक दैवी सत्ता का संकेत देती है।

5. गुप्तकालीन रूपांतरण

कुषाणकाल में शिव का मानवाकार रूप और अमूर्त लिंग, दोनों स्वतंत्र प्रतिमा-वैज्ञानिक परंपराओं में विद्यमान थे। गुप्तकालीन शिल्प ने इन्हें एक संयुक्त दृश्य-विधान में रूपांतरित किया। मुखलिंग में स्तंभाकार आधार की निरंतरता बनी रहती है, पर उसके अग्रभाग पर उभरता चेहरा उपासक के सामने सन्निहित देवता का अनुभव कराता है। यह संयोजन गुप्त कला की उस प्रवृत्ति से मेल खाता है जिसमें आध्यात्मिक भाव को सुव्यवस्थित, संतुलित और मानवीय रूप दिया गया।

गुप्तकालीन मुखलिंग का केंद्रीय सौंदर्यात्मक विचार समाधि है। नेत्रों की अधोमुख अथवा अंतर्मुखी दिशा, भृकुटि-मध्य की एकाग्रता, नियंत्रित मुस्कान और मुख-रेखाएँ बाहरी गतिविधि की अपेक्षा भीतर स्थित ज्ञान को महत्त्व देती हैं। कुमारसम्भव में शिव के तप और ध्यान के वर्णन के साथ इस कला-भाषा का साम्य देखा जा सकता है। तृतीय नेत्र, जटाजूट और बालेंदु शिव की विशिष्ट पहचान को बनाए रखा गया है, किंतु सर्पों या अत्यधिक उग्र चिह्नों का सीमित प्रयोग मुख को भयावह होने से बचाता है। अक्षमाला, ग्रीवा-अलंकरण और सममित केश-विन्यास से तपस्वी और राजसी गुणों का संतुलन निर्मित होता है। गुप्त शिल्पकार के लिए आध्यात्मिक प्रभाव मुख की तीव्र विकृति से नहीं, अनुपात, सतह-उपचार और शांत भाव से उत्पन्न होता है और यही गुप्तकालीन प्रतिमाशास्त्र की प्रमुख विशेषता भी कही जाती है।¹¹

6. उचाहरा और खोह के प्रतिमान

उचाहरा का एकमुखी शिवलिंग इस परंपरा का अत्यंत परिष्कृत उदाहरण माना जाता है। इसकी प्रस्तावित तिथि चौथी शताब्दी के अंतिम भाग अथवा पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में रखी जाती है। आधार से शीर्ष तक इसकी ऊँचाई लगभग 38 इंच और मुख की ऊँचाई लगभग 10 इंच बताई गई है। अपेक्षाकृत सीमित आकार में भी मुख की स्पष्टता, जटाओं की लय और संतुलित अनुपात एक ऐसी दृश्य एकता बनाते हैं जिसमें लिंग का स्तंभाकार रूप तथा शिव की व्यक्त उपस्थिति एक-दूसरे को बाधित नहीं करते।

खोह से प्राप्त एकमुखी लिंग, जो एक भग्न शिवमंदिर से संबद्ध है और अब इलाहाबाद नगर निगम संग्रहालय में संरक्षित बताया जाता है, इस प्रकार की शिल्प-भाषा का दूसरा महत्वपूर्ण उदाहरण है। इसकी ऊँचाई लगभग छह फुट और व्यास 18 इंच है। उचाहरा की तुलना में इसका पैमाना बड़ा है, किंतु शांत भाव, सममित जटाजूट और नियंत्रित मुख-रचना गुप्तकालीन आदर्श की निरंतरता प्रदर्शित करते हैं। इन दोनों प्रतिमाओं को केवल 'चित्रित' अथवा 'अचित्रित' लिंग की श्रेणी में रखना उनके सौंदर्यात्मक कार्यक्रम को घटा देगा; वे दर्शन और उपासना के बीच दृश्य मध्यस्थता करती हैं।

7. भूमरा और राजघाट में शैलीगत परिवर्तन

भूमरा के शिवमंदिर के अवशिष्ट गर्भगृह में स्थापित एकमुखी लिंग को पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध या

छठी शताब्दी के आरंभ से जोड़ा जाता है। इसके मुख का आकार उचाहरा और खोह की प्रतिमाओं से बड़ा है तथा मुख-रेखाएँ अधिक कोणीय हैं। गले का चौड़ा कंठहार, केश-रेखा के समीप मणिमाला और जटाओं के ऊपर सजावटी गवाक्ष-चूड़ामणि इसके अधिक अलंकृत रूप को रेखांकित करते हैं। यह परिवर्तन आध्यात्मिक भाव के परित्याग का सूचक नहीं, बल्कि उसी भाव को विस्तृत अलंकरण और अधिक स्पष्ट रूपरेखा के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास है।¹²

राजघाट का लगभग पाँच इंच ऊँचा टेराकोटा शिव-मस्तक इस भाषा के प्रसार को भिन्न माध्यम में दिखाता है। जटाजूट, अर्धचंद्र और ऊर्ध्वाधर तृतीय नेत्र जैसे लक्षण छोटे मृण्मय आकार में भी सुरक्षित हैं। पत्थर की विशाल मंदिर-प्रतिमा और छोटे टेराकोटा मस्तक के बीच माध्यम, उपयोग और दर्शक का अंतर रहा होगा; फिर भी दोनों में शिव के शांत और राजसी चेहरे की पहचान बनी रहती है।

8. भीटा और गुडीमल्लम्

पूर्वोक्त की भांति भीटा से प्राप्त खंडित पाषाण-आकृति को कुछ विद्वानों ने ईसा-पूर्व पहली या दूसरी शताब्दी का माना है और उस पर मानव-मुखों के अंकन के प्रयास और अपूर्ण विन्यास उसे एक अधूरा अथवा क्षतिग्रस्त मुखलिंग की सम्भावना बताते हैं। इस उदाहरण का महत्व इसी अनिश्चितता में है, क्योंकि टूटे हुए शिल्प को किसी पूर्वनिर्धारित विकास-क्रम की कड़ी बना देना उसके भौतिक इतिहास को अनदेखा कर देता है।

गुडीमल्लम् की प्रतिमा और अधिक जटिल प्रश्न प्रस्तुत करती है। इसमें स्तंभाकार आकृति पर मानव-रूप, स्पष्ट जननांग और नीचे एक पुरुष-आकृति का उल्लेख मिलता है। इसे शिव का पुरातन रूप मानने वाली व्याख्या के सामने कई आइकोनोग्राफिक प्रश्न रखे गए हैं: तृतीय नेत्र, यज्ञोपवीत, परिचित आयुध और सर्प-जैसे चिह्नों का अभाव; सहायक पुरुष की प्रसन्न मुद्रा; तथा आधार का असामान्य विन्यास। किंतु इन अनुपस्थितियों मात्र से प्रतिमा को शिवेतर सिद्ध करना भी संभव नहीं। प्राचीन प्रतिमाओं में मानकीकरण क्रमिक होता है और स्थानीय रूपों में भिन्नता स्वाभाविक है।

9. मंदिर स्थल और दर्शक का अनुभव

मुखलिंग के अर्थ को समझने के लिए उसे संग्रहालय की पृथक वस्तु के बजाय मंदिर की स्थानिक व्यवस्था में देखना उपयोगी है। गर्भगृह का अंधकार, दीप-ज्योति, जलाभिषेक, परिक्रमा और सीमित दृष्टि-कोण प्रतिमा के अनुभव को आकार देते हैं। स्तंभाकार देह इस संकुचित पवित्र स्थान में ऊर्ध्व धुरी का कार्य करती है, जबकि अग्रभाग पर उत्कीर्ण मुख उपासक की दृष्टि को केंद्रित करता है। इस प्रकार अमूर्त रूप और पारस्परिक दर्शन-देवता को देखना और देवता द्वारा देखे जाने का अनुभव - एक ही वस्तु में संयुक्त हो जाते हैं।

गुप्तकालीन मुख की शांत दृष्टि को केवल शिल्पगत सज्जा कहना पर्याप्त नहीं होगा। नेत्रों का संयमित अंकन गर्भगृह में प्रतिमा के सामने खड़े दर्शक के साथ एक विशिष्ट संबंध बनाता है। चेहरा न तो कथा-चित्रण की तीव्र गति में है, न राजकीय प्रतिमा की लौकिक सजगता में; वह अविचल, भीतर की ओर उपस्थित है। यही कारण है कि समाधि को इस प्रतिमा-विधान की व्याख्या में केंद्रीय स्थान मिलता है। ध्यान की स्थिति यहाँ निजी मनोभाव नहीं, सार्वजनिक रूप से निर्मित पवित्र दृश्य है।

लिंग पर मुख की आकृति निर्मित करने से अनुष्ठानिक व्यवहार में भी अर्थ-परिवर्तन संभव हुआ होगा। निराकार स्तंभ पर अभिषेक और पूजा की प्रथाएँ जारी रह सकती थीं, पर देवता के व्यक्त मुख के कारण

पुष्प, दीप और दृष्टि के केंद्र अधिक स्पष्ट हो जाते थे। यह अनुमान प्रत्यक्ष अनुष्ठान का विकल्प नहीं है; फिर भी प्रतिमा की संरचना से इतना समझा जा सकता है कि मुखलिंग ने पूजक के लिए स्पर्श, दृष्टि और परिक्रमा की दिशाओं को संगठित किया और उसके मस्तिष्क को केन्द्रित किया।

10. कालक्रम और शैली

गुप्तकालीन कला को अक्सर 'शास्त्रीय' संतुलन की एकरूप शैली के रूप में वर्णित किया जाता है, किंतु मुखलिङ्गों की तुलना इस धारणा को अधिक सूक्ष्म बनाती है। उचाहरा की परिष्कृत लय, खोह का विस्तृत पैमाना और भूमरा का प्रखर अलंकरण एक ही रूप के भीतर अलग-अलग कलात्मक प्राथमिकताओं की ओर संकेत करते हैं। इनके क्रम को केवल 'सरल से जटिल' विकास-कथा में रखना उचित नहीं, क्योंकि संरक्षण की स्थिति, पत्थर का प्रकार, शिल्प, मंदिर की संरचना और स्थानीय संरक्षण-परंपरा भी दृश्य अंतर पैदा कर सकते हैं। फिर भी शैलीगत तुलना उपयोगी रहती है, यदि उसके निष्कर्ष सीमित रखे जाएँ। जटाजूट की सममिति, अर्धचंद्र और कपाल-नेत्र की स्थिति, ग्रीवा-अलंकरण का प्रकार, मुख का अनुपात और आधार का विन्यास ऐसे लक्षण हैं जिनसे प्रतिमाओं को समूहों में रखा जा सकता है। भूमरा में बड़े मुख और कोणीयता का बढ़ना दर्शक के लिए चेहरे की पठनीयता को बढ़ाता है; वहीं उचाहरा और खोह में अधिक मृदु उपचार ध्यानमग्न भाव को प्रमुख बनाता है।

रंगमहल का फलक और राजघाट का टेराकोटा मस्तक यह भी स्मरण कराते हैं कि पाषाण लिंगों के आधार पर ही समूची परंपरा नहीं समझी जा सकती। टेराकोटा में सांचे, सतह और आकार की अपनी सीमाएँ तथा संभावनाएँ होती हैं। बहुमुखी शिव का कथा-संदर्भ और छोटे मस्तक का संक्षिप्त प्रतीक-विधान, दोनों, पत्थर की स्थापित प्रतिमा से भिन्न प्रकार की दृश्य संप्रेषण-क्षमता रखते हैं। अतः 'मुखलिंग परंपरा' को एक निश्चित वस्तु-श्रेणी के बजाय रूपों, माध्यमों और धार्मिक कल्पनाओं के नेटवर्क के रूप में देखना अधिक फलदायी है।

11. व्याख्या की सीमाएँ

इस अध्ययन की सबसे बड़ी सीमा स्रोत-साक्ष्य की असमानता है। जिन प्रतिमाओं का विस्तृत उत्खनन-वृत्तांत, अभिलेख, मूल स्थापना-संदर्भ या सुरक्षित संग्रहालय-अभिलेख उपलब्ध नहीं हैं, उनके लिए व्यापक निष्कर्ष अस्थायी होते हैं। भीटा जैसी खंडित वस्तु के मामले में यही समस्या विशेष रूप से तीखी है। टूट-फूट, पुनःस्थापना और बाद की पहचान मूल रूप को बदल सकती हैं। इसी कारण दृश्य समानता को सीधा धार्मिक अर्थ नहीं मानना चाहिए। भविष्य के अध्ययन में उच्च-गुणवत्ता प्रतिमाचित्रण, त्रि-आयामी प्रलेखन, पाषाण और मृदा का तकनीकी परीक्षण, स्थल-मानचित्रण तथा संग्रहालय-अभिलेखों का पुनर्पाठ आवश्यक होगा। संस्कृत, प्राकृत और क्षेत्रीय भाषाओं के अभिलेखों को मंदिर-संरचना और पूजा-वस्तुओं के साथ पढ़ने से भी मुखलिङ्गों के संरक्षक, शिल्पी और उपयोगकर्ता समुदायों के बारे में अधिक जानकारी मिल सकती है। ऐसी अनुसंधान-दिशा धार्मिक परंपराओं की जटिलता के प्रति अधिक न्यायपूर्ण होगी। शिवलिंग और मुखलिंग की चर्चा में 'अर्थ' कोई एक बार तय हो जाने वाला गुण नहीं, बल्कि पाठ, वस्तु, स्थल और समुदाय के बीच बनने वाली ऐतिहासिक प्रक्रिया है।

12. निष्कर्ष

गुप्तकालीन मुखलिंगों का अध्ययन यह दिखाता है कि शिवलिंग का इतिहास अमूर्तता और मानव आकर

की सामान्य तुलना से नहीं समझा जा सकता है। उचाहरा और खोह की शांत, संतुलित प्रतिमाएँ; भूमरा का अधिक अलंकृत रूप; राजघाट का मृण्मय मस्तक; तथा पंचमुखी योजना के दृश्य संकेत-सभी मिलकर एक ऐसी प्रतिमा-वैज्ञानिक परंपरा रचते हैं जिसमें स्तंभ, मुख, ज्योति, ध्यान और शक्ति परस्पर संबद्ध हैं। गुप्त कलाकार ने शिव की उपस्थिति को न तो पूर्णतः निराकार छोड़ा और न पूर्णतः लौकिक मानव-प्रतिमा में बदला; उसने दोनों स्तरों को एक शरीर में रखा। भीटा और गुडीमल्लम् जैसे उदाहरण बताते हैं कि साक्ष्य बहुअर्थी हो सकते हैं। इतिहास-लेखन का अधिक फलदायी मार्ग यही है कि शास्त्रीय भाषा, स्थानीय पूजा, मूर्तिकला, पुरातत्त्व और आधुनिक व्याख्यात्मक इतिहास को साथ रखा जाये। इस पद्धति से शिवलिंग को एक स्थिर 'वस्तु' के बजाय अनेक कालों और समुदायों में पुनर्परिभाषित होते रहने वाले प्रतीक के रूप में देखा जा सकता है।

संदर्भ

1. वर्मा परिपूर्णानंद, "प्रतीकशास्त्र" हिन्दी समिति ग्रंथमाला, लखनऊ, 1964, पृष्ठ 280
2. मिश्र जनार्दन, "भारतीय प्रतीकविद्या" बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1990, पृष्ठ 117
3. भंडारकर आर. जी. "Vaishnavism, Saivism and Religious Sects" दृष्टव्य श्रीवास्तव, वृजभूषण, "प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला" विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2007, पृष्ठ 59
4. बनर्जी, जितेंद्रनाथ, "द डेवलपमेंट ऑफ़ हिन्दू आइकॉनोग्राफी" कलकत्ता, पृष्ठ 455
5. वही, पृष्ठ 461
6. सहाय शिवस्वरूप "भारतीय पुरालेखों का अध्ययन" मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2020, पृष्ठ 268, 271, 277.
7. वर्मा परिपूर्णानंद, "प्रतीकशास्त्र" पृष्ठ 273
8. मिश्र जनार्दन, "भारतीय प्रतीकविद्या" बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1990, पृष्ठ 125
9. वही, पृष्ठ 120
10. वही, पृष्ठ 120
11. अग्रवाल वासुदेवशरण, "गुप्त आर्ट" संपादन- पृथ्वी के. अग्रवाल, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, 1977, पृष्ठ 32
12. श्रीवास्तव, वृजभूषण, "प्राचीन भारतीय प्रतिमा-विज्ञान एवं मूर्तिकला" विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2007, पृष्ठ 366